2014

Aarhat Multidisciplinary International Education Research Journal (AMIERJ)

(Bi-Monthly)
Peer-Reviewed Journal
Impact factor: 0.948

VOL - III Issues: V

Chief-Editor:

Ubale Amol Baban

30/11/2014

Aarhat Multidisciplinary International Education Research Journal (AMIERJ)

(Bi-Monthly) Peer-Reviewed Journal Vol No III Issues V
ISSN 2278-5655

हिंदी सिनेमा की भाषा - कल, आज और कल

ड़ॉ. काजल पाण्डे[1]

[1] वरिष्ठ तकनीकी अधिकारी,

प्रगत संगणन विकीस केंद (सी-डैक), पणे

मज़हब, मुहब्बत, जात-पांत, भाषा और मुल्कों की सीमाओं को लाँघता हुआ भारतीय सिनेमा अपने सौ बरस पूरे कर चुका है। बैलगाड़ी पर सवार होकर सफर शुरू करने वाला भारतीय सिनेमा आज जेट विमान पर सवार है। इसके समावेशी चरित्र का स्वरूप इसी से पता चलता है कि इसने देश के सभी कलारूपों को अपने में समेट लिया है। गीत-संगीत, नृत्य, नौटंकी, लीला, नटबाजी, जादू, मदारियों के खेल, शिल्पकला, चित्रकला, साहित्य - सभी कलाओं को भारतीय सिनेमा ने इस विराट देश की स्वप्नजीवी जनता के सुख-दुख-राग-विराग-संघर्ष से जोड़ दिया।

टेलीविजन के प्रसार के कारण अब विश्व के प्रत्येक भूभाग में हिंदी सिनेमा की लोकप्रियता सर्वविदित है। आज हिंदी की व्यापक लोकप्रियता और इसे संप्रेषण के माध्यम के रूप में मिली आम स्वीकृति किसी संवैधानिक प्रावाधान या सरकारी दबाव का परिणाम नहीं है। मनोरंजन और सिनेमा की दुनिया ने इसे व्यापार और आर्थिक लाभ की भाषा के रूप में जिस तरह विस्मयजनक रूप से शनैः शनैः स्थापित किया। इसने आज इसके पारंपरिक विरोधियों व उनके दुराग्रहों का मुंह बंद कर दिया है।हिंदी का सिनेमा से जो रिश्ता रहा है, उसने हिंदी को फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे कोई इंकार नहीं

कर सकता है। दूसरी ओर सत्य यह भी है कि पहली भारतीय फिल्म जो एक मराठी भाषी ने बनाई थी, वो हिंदी में ही थी। यह देश की सबसे ज्यादा समझी जानेवाली भाषा थी और है। निश्चय ही इसे आधार देने में उर्दू की बड़ी भूमिका रही है पर इसी के साथ यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि हिंदी ने संस्कृत का बड़े पैमाने पर अपने आधार के लिए इस्तेमाल किया। इन दोनों भाषाओं के कारण आज जो हिंदी है, उसकी स्वीकार्यता ने देश व्यापी ही नहीं बल्कि उपमाद्वीपीय स्वरूप धारण कर लिया है। अगर उर्दू के माध्यम से फारसी-अरबी के शब्द ग्राह्य हुए तो संस्कृत के कारण प्रादेशिक भाषा-भाषियों को हिंदी समझने में मुश्किल नहीं हुई।

हिंदी सिनेमा एक ऐसे कला माध्य म के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, जिसमें अनेक कलाओं का पड़ाव दिखाई देता है। भाषाई और रूपकर कलाएँ तो फिल्मों में हमेशा ही अपना दखल रखती आयी हैं, परंतु साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरण, सिनेमा में बोलियों और आंचलिकता की अनुगूँज, गीतों का निर्माण एवं प्रसार, भाषा–भाषी समाज की कलात्मक अभिरूचि एवं कला मानकों का विकास, सांस्कृतिक रंगो, ध्वानियों की उद्भावना और संदेश संप्रेषण तथा शिक्षण प्रक्रिया के द्वारा भाषा, साहित्य और संस्कृति का गठन फिल्मों का महत्वपूर्ण अवदान माना जा सकता है। हिंदी फिल्में भी अपनी इस भूमिका में पीछे नहीं हैं।

भाषा-प्रसार उसके प्रयोक्ता-समूह की संस्कृति और जातीय प्रश्नों को साथ लेकर चला करता है। भारतीय सिनेमा निश्चय ही हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में अपनी विश्वव्यापी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। उनकी यह प्रक्रिया अत्यंत सहज, बोधगम्य, रोचक, संप्रेषणीय और ग्राह्य है। हिंदी यहाँ भाषा, साहित्य और जाति तीनों अर्थों में ली जा सकती है। जब हम भारतीय सिनेमा पर दृष्टिपात करते हैं तो भाषा का

प्रचार-प्रसार, साहित्यिक कृतियों का फिल्मी रुपांतरण, हिंदी गीतों की लोकप्रियता, हिंदी की उपभाषाओं, बोलियों का सिनेमा और सांस्कृतिक एवं जातीय प्रश्नों को उभारने में भारतीय सिनेमा का योगदान जैसे मुद्दे महत्वपूर्ण ढंग से सामने आते हैं। हिंदी भाषा की संचारात्मकता, शैली, वैज्ञानिक अध्यवयन, जन संप्रेषणीयता, पटकथात्मकता के निर्माण, संवाद लेखन, दृश्यात्मकता दृश्य भाषा, कोड निर्माण, संक्षिप्त कथन, बिम्ब धर्मिता, प्रतीकात्मकता, भाषा-दृश्य की अनुपातिकता आदि मानकों को भारतीय सिनेमा ने गढ़ा है। भारतीय सिनेमा हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति का लोकदूत बनकर इन तक पहुँचने की दिशा में अग्रसर है।

हिंदी सिनेमा का उत्पादन औद्योगिक रूप में मुबंई में होता है। हिंदी, भाषा के जीवन सरोकारों, स्पंदन, भावात्मक संचार, आर्थिक स्थिति एवं वैचारिक बनावट को दर्शाती है। हिंदी सिनेमा में क्षेत्रीय सीमाएँ, भौगोलिक बाध्य ताएँ एवं भाषाई घेरेबंदी होती है। हिंदी सिनेमा के निर्माण व वितरण में हिंदीतर भाषा–भाषी लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हिंदी सिनेमा में हिंदी फिल्म निर्माण एक सामूहिक कार्य है इसलिए हिंदी फिल्में भारत और कई बार भारत के बाहर से भी मानव संसाधनों का उपयोग करती हैं। इसके चलते हिंदी फिल्मों की कुशलता, प्रभावोत्पादकता काफी बढ़ जाती है। अभिप्राय यह कि हिंदी सिनेमा संसार में भारतीय विविधता को एकता के सूत्र में विकसित करता है। विभिन्न भाषाई भौगोलिक समूहों को इकट्ठा करके उनमें आपसी समन्वय स्थापित करता है। इस प्रकार हिंदी फिल्में अन्य क्षेत्रीय भाषाओं बंगला, तमिल, कन्नड़ आदि की तुलना में अध्कि विस्तृत लक्ष्य को प्रस्तावित करती हैं। जहाँ हम बाकियों को क्षेत्रीय सिनेमा कह सकते हैं वहीं अपनी निर्माण प्रक्रिया और उद्यमी चरित्र के चलते तथा समस्त भारतीय प्रतिनिध्त्वि (अभिनय, संगीत, तकनीक, संपादन, वितरण) के समाहार होने के कारण हिंदी फिल्मों को राष्ट्रीय; न कि केवल उत्तर भारतीय सिनेमा कहना पड़ेगा। हिंदी फिल्मों को राष्ट्रीय

सिनेमा कहना सर्वथा समीचीन भी है क्योंकि इन फिल्मों के दर्शक भारतीय भूखंड के हर हिस्से में मौजूद हैं। वे लोग भी जिन्हें न तो ठीक से हिंदी लिखनी, पढ़नी, बोलनी आती है वे भी हिंदी फिल्में देखते हैं और उसका संदेश ग्रहण करने में सक्षम होते हैं। साथ ही, हिंदी फिल्में राष्ट्रीय विमर्श के मुद्दों को लगातार गंभीरता और सहजता से उठाती हैं। भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, सामाजिक परिवर्तन राजनीतिक घटनाचक्र का बैरोमीटर बनकर हिंदी फिल्में भारतीय राष्ट्र की मुख्य चिंताधरा का उद्घाटन करती हैं। अपने इन्हीं गुणों के चलते हिंदी फिल्में सच्चे अर्थों में भारत के राष्ट्रीय सिनेमा को अभिहित किए जाती रही हैं। फिर भी, अपनी भाषाई बनावट के चलते हिंदी फिल्में हिंदी भाषी समूहों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

भाषा प्रसार उसके प्रयोक्ता–समूह के संस्कृति और जातीय प्रश्नों को साथ लेकर चला करता है। हिंदी फिल्में निश्चय ही हिंदी भाषा के प्रचार–प्रसार में अपनी विश्वव्यापी भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। उनकी यह प्रक्रिया अत्यंत सहज, बोधगम्य, रोचक, संप्रेषणीय और ग्राह्य हैं। हिंदी, यहाँ भाषा, साहित्य और जाति तीनों अर्थों में ली जा सकती है। प्रचार–प्रसार के माध्यम के रूप में जब हम हिंदी सिनेमा पर दृष्टिपात करते हैं तो निम्नलिखित मुद्दे महत्वपूर्ण ढंग से उभरते हैं:

1. भाषा का प्रचार–प्रसार

2. उर्दू का प्रभाव

3. साहित्यिक कृतियों का सिनेमा रुपांतरण

4. फिल्मी गीतों की लोकप्रियता

5. हिंदी की उपभाषाएँ और बोलियाँ

6. कलात्मक आलोचनाशास्त्र

7. सांस्कृतिक एवं जातीय प्रश्न

8. अंग्रेजी का प्रभाव

अगर फिल्मों में संवादों की बात हो तो ज़ाहिर है शुरुआत आलम आरा से ही करनी होगी। जहां शुरुआती दौर में भाषा साफ और सरल थी, वहीं आधुनिक युग की भाषा के कई रंग हैं।

हिंदी फिल्मों में ध्वरनि का आगमन हालांकि 1931 ई. (आलम आरा) में होता है परंतु 1912 में ही दादा साहब फाल्के की फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (भारत की पहली फीचर फिल्म) में उपशीर्षकों की भाषा हिंदी की उस विशिष्ट शैली के दर्शन होते हैं, जो बाद में हिंदी भाषी समूहों में लोकप्रिय होती चली गई। इस फिल्म के शीर्षकों को देखें तो हम पाते हैं कि इसमें लगभग 95 शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनमें से 8 उर्दू में है बाकी संस्कृत और हिंदी के हैं। एक–दो शब्दों में वर्तनी की अशुद्धता भी है। पहली फिल्म में ही भाषा की व्यापकता हमें दिखती है। हिंदी फिल्मों ने हिंदी की ऐसी भाषा–शैली विकसित करने और उसे गैर हिंदी भाषी क्षेत्रों, भारतेत्तर जनसमूहों में प्रचलित करने में मदद की जो आज हर जबान पर है।

जैसे आज कुछ लोगों को 'हिंदी सिनेमा' की 'हिंदी' पर अंग्रेजी का बोलबाला नजर आता है वैसे ही बीते वक्त में कुछ लोगों को हिंदी सिनेमा के साथ 'उर्दू' का जिक्र गवारा ना था।

हिंदी फिल्मों की भाषा को लेकर भी भ्रम पैदा किया जाता रहा है कि हिंदी फिल्मों की वास्तविक भाषा उर्दू है। फिल्मों के नामकरण, संवाद, लेखन और गीतों के विश्लेषण से कुछ फिल्म विचारकों ने सिद्ध

किया था कि हिंदी फिल्मों को कायदे से उर्दू फिल्म कहा जाना चाहिए लेकिन नामकरण और संवादों के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि हिंदी फिल्मों में उर्दू का वर्चस्व है। गीतों में अवश्य ही उर्दू शब्दों की प्रचुरता दिखाई देती है लेकिन इस उर्दू को हिंदी के निकट ही कहा जा सकता है।

फिल्में मात्र मौखिक भाषा का ही आलंबन नहीं ग्रहण करती वरन् मौखिक भाषाओं के साथ दृश्य भाषा पूरक के रूप में साथ–साथ चला करती हैं। हिंदी फिल्मों ने भी बड़े अनुभव के बाद अपनी दृश्य भाषा का निर्माण एवं गठन सुनिश्चित किया है। हम अपनी आम बातचीत के दौरान भी दृश्य भाषा का प्रयोग करते हैं। मसलन यहां या वहां बैठने के लिए तर्जनी के संकेत। 'यहां' के लिए तर्जनी क साथ अन्य अंगुलियां भी साथ जुड़ी होती हैं जबकि 'वहाँ' के संकेत में वह अकेली और तनी हुई होती है। यदि संदर्भ बैठने (स्वागतोपरांत आदि) का हो तो हम किसी भी भाषा में बोलते हुए इस तरह की देह भाषा का प्रयोग करते हैं। मौखिक भाषा को न जानने वाला या कम जानने वाल व्यक्ति संकेतों को ग्रहण करते हुए भाषाई आरोह और अवरोह के आधर पर पूरा अर्थ समझ जाता है। फिल्मों में दृश्य की ताकत मौखिक भाषा की बाधओं को दूर कर उसे अधिक संप्रेषणीय बना देती है इसलिए वे निभाषी समूहों तक अपने अर्थ का प्रकाशन संभव कर पाती है। हिंदी फिल्मों की दृश्यता हिंदी भाषा के अर्थ प्रसार में सहायक रही है। भारत में प्रतीकों की प्रचुरता और प्राचीनता अर्थ संप्रेषणीय में कारगर सिद्ध हुई है। इन प्रतीकों उदाहरणत: 'शिवलिंग' या 'बांसुरी' की वर्तनियाँ भिन्न होने के बावजूद उन्हें पूरे भारत के लोग ग्रहण कर लेते है। हिंदी फिल्मों ने इस प्रतीकात्मकता को अपनाकर अपनी संप्रेषणीयता गैर हिंदी भाषी क्षेत्रों में सुनिश्चित की है। दृश्य भाषा के विकास और प्रतीकात्मकता बनावट के सहारे हिंदी, हिंदी फिल्मों के माध्यम से उन नसमूहों

में समादृत और लोकप्रिय हुई जो किसी अन्य माध्यम से संभव न थी। इस प्रकार कह सकते हैं कि फिल्में भाषाई प्रचार को गति देती हैं।

हिंदी फिल्मों ने हिंदी साहित्य को भी आम लोगों; वे लोग भी जो निरक्षर है या फिर हिंदी पढ़ नहीं सकते - या पढ़ना नहीं चाहते, देशी–विदेशी दोनों तक पहुँचाने में सफलता अर्जित की है। हिंदी साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियों – शतरंज के खिलाड़ी, तीसरी कसम, चित्रलेखा, सूरज का सातवाँ घोड़ा, माया दर्पण, तमस, सारा आकाश पर फिल्में बनी हैं। हिंदी साहित्य और उसकी भाषा का व्यापक प्रसार पूरे विश्व में फिल्मों के जरिए हुआ है।

साहित्यिक कृतियों का सिनेमाई रूपांतरण साहित्य को नई संचारात्मक और संप्रेषण शक्ति प्रदान कर देता है। निरक्षर लोग और गैर भाषाई लोगों तक भी साहित्य की पहुँच इसके फलस्वरूप हो जाती है। यदि देखें तो हम पाते हैं कि साहित्य–संरचना का मूलाधार भाषा है जबकि वहीं साहित्य जब फिल्मी पर्दे पर आता है तो दृश्य उसके केंद्र में होता है। भाषाओं का भूगोल सीमित और दृश्यों का व्यापक होता है। जरूरी नहीं कि दृश्य हमेशा असीमित भौगोलिक विस्तार को संबोधित करने की क्षमता रखते हैं। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। अंदमान द्वीप के कई आदिवासियों ने अपने ऊपर से उड़ते हवाई जहाज को देखा तो उन्होंने इसे विराट पक्षी के रूप में परिकल्पित किया। दृश्य यथार्थ बिंबों के अभाव में अपना अर्थ संप्रेषण नहीं कर सकते हैं लेकिन भाषा कि तुलना में वे अधिक संप्रेष्य कहे जा सकते हैं। पहाड़, पेड़, पक्षियों के दृश्य पूरी मानवता को संबोधित कर सकते हैं लेकिन हवाई जहाज सीमित लोगों की पहुँच के चलते सीमित लोगों तक ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करने में सक्षम होते हैं। माथे की बिंदी एक सांस्कृतिक प्रतीक होने के चलते भारत के विभिन्न भाषा–भाषी समूहों पर सहज ही अर्थ प्रकट कर सकती

है परंतु पश्चिमी दुनिया के लिए उसका अर्थ व अभिप्राय लगाना कठिन होता है। संस्कृति बिंबों के द्वारा निर्मित होती है, भाषा उनकी सहायक होती है। हिंदी साहित्य की महान कृतियों का फिल्म में रूपांतरण उनकी लोकप्रियता और पहुँच को सुनिश्चित करता है। 'तीसरी कसम' फणीश्वरनाथ रेणु की महत्वपूर्ण कहानी है इसी पर बासु भट्टाचार्य ने जब फिल्म का निर्माण किया तो वह गैर हिंदी भाषियों के लिए भी सहज–सप्रेष्य हो उठी। उसमें गानों ने अतिरिक्त ऊर्जा का समावेश करा दिया और उनकी व्यापकता को सुनिश्चित कर दिया। अभिनय, संगीत, दृश्यांकन ने मिलकर इस कहानी का कायाकल्प कर दिया। कहानी में अनेक मार्मिक स्थल; स्टेशन पर हीरामन, हीराबाई का बिछोह आदि भारतीय समाज के स्मृति पटल पर सदैव के लिए अंकित हो गए।

फिल्मी गीत अपनी संगीतात्मकता के चलते अध्कि संचारात्मक प्रकृति के होते हैं। हिंदी फिल्मी गीत उन लोगों की जबान भी चढ़े दिखाई देते हैं जिन्होंने हिंदी को कभी व्यवस्थित ढंग से पढ़ा नहीं। इन गीतों के माध्यम से हिंदी दुनिया के विभिन्न भागों तक पहुँची। गीत – आसानी से हमारी स्मृति का अंग बन जाते हैं इसलिए भाषाई प्रचार–प्रसार का सहज, दीर्घजीवी माध्यम बनते हैं। हिंदी फिल्मी गीतों में भी यह गुण विशेष तौर पर मौजूद है। कोई भी समाज या राष्ट्र अपने गीतों के माध्यम से अपने हृदय को खोलता है। पहले निम्न गीतों पर एक दृष्टि डालते हैं

जब दिल ही टूट गया (1946, शाहजहाँ)

वतन की राह में वतन के नौजवानों (1948, शहीद)

लारा लप्पा, लारा लप्पा (1949, एक थी लड़की)

मेरे पिया गए रंगून, किया है (1949, पतंगा)

तेरी दुनिया में दिल लगता नहीं (1950, बावरे नैन)

तू गंगा की मौज, मैं जमुना का (1952, बैजूवावरा)

दे दी हमें आजादी (1954, जागृति)

मेरा जूता है जापानी (1955, श्री 420)

डम डम डिगा डिगा, मौसम (1960, छलिया)

इंसाफ की डगर पर (1961, गंगा–जमुना)

मेरा रंग दे बसंती चोला (1965, शहीद)

सजन रे झूठ मत बोलो (1966, तीसरी कसम)

झूठ बोले कौवा काटे (1973, बॉबी)

मैं तो आरती उतारूं रे (1975, जय संतोषी माँ)

दीदी, तेरा देवर दीवाना (1990, हम आपके है कौन)

ईलू ईलू (1990, सौदागर)

उपरोक्त गीत बदलते सामाजिक परिदृश्य के साथ–साथ अपनी लोकप्रियता का संकेत भी करते हैं। अपने संगीतात्मक विधान, सुंदर शिल्प और संचारधर्मी तेवर के चलते ये गीत भाषाई समूहों के साथ–साथ विभाषाई जनों तक पहुँचे और उनका कण्ठहार बने। इन गीतों में निजी दर्द के साथ राष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता, सामाजिक संबंध, जीवन–मृत्यु के प्रश्न, कॉमेडी और ध्वनयात्मक सरंचनाओं को सहज ही देखा जा सकता है। गीतों को जब संगीत का आलंबन मिलता है तो उनकी यात्रा लंबी हो जाती है। वे अपने इतिहास और भूगोल का अतिक्रमण करने की क्षमता अर्जित कर लेते हैं। हिंदी फिल्मी गीतों ने देश और विदेश की लंबी यात्राएं करने में सफलता पायी है। इनके माध्यम से हिंदी भाषा और संस्कृति भावपूर्ण प्रवाह के रूप में जन–जन तक पहुँची।

आज हिंदी–जनसंचार के जितने भी माध्य म है उनमें हिंदी की उपभाषाओं/बोलियों का प्रयोग निरंतर क्षीण हुआ है। संभवत: यह माना जा चुका है कि बोलियाँ समूह के निजी संप्रेषण के लिए ही रह गई हैं। लेकिन, हिंदी की बोलियों भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, गढ़वाली, राजस्थानी, बुंदेली, हरियाणवी, मैथिली में बनने वाली फिल्मों ने इन्हें नया जीवन प्रदान किया। हिंदी की ये बोलियाँ फिल्मों के माध्यंम से न केवल अपने अस्तित्व की रक्षा कर रही हैं वरन् हिंदी भाषा के वैविध्यय को बचाए रखने, उसके शब्द भंडार में इजाफा करने और हिंदी की व्यापकता के सुनिश्चय में लगी हुई हैं।

हिंदी की उपभाषाओं में फिल्मी नजरिए देखें तो भोजपुरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपभाषा के रूप में उभरती है। आजादी के पहले ही मोतीलाल बी.ए. ने 'नदिया के पार' नामक फिल्म में भोजपुरी गीतों का समावेश करवा दिया था और फिर भोजपुरी भाषा संवादों और गीतों के माध्यम से हिंदी सिनेमा में लगातार

बनी रही। भोजपुरी फिल्म का व्यवस्थित निर्माण 1962 में गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबे में होता है, इसके बाद की अनेक महत्वपूर्ण फिल्म कृतियाँ 'लागी नाही छूटे राम', 'कब होई है गवनवा हमार', 'भौजी दंगल', 'गंगाकिनारे मोरा गांव', 'राखी की लाज', 'बलम परदेसिया', 'भईया दूज', 'तुलसी सोते हमार अंगना'। हमारे समक्ष आयीं। भोजपुरी फिल्में न केवल भारत वरन् मॉरीशस और त्रिनिदाद में भी लोकप्रिय हैं और इस प्रकार हिंदी भाषा के ही एक रूप का विस्तार कर रही हैं।

मैथिली भाषा की फिल्मों के निर्माण का प्रयास 1964 में माना जा सकता है जब ममता गाबय गीत, (निर्देशक परमानंद) को बनने का उद्यम हुआ। मैथिली फिल्में अपनी शैशवावस्था में हैं लेकिन कन्यादान (1964) और 'सस्ता जिनगी महंगा सिनूर' (1999, बालकृष्ण झा निर्माता) मैथिली भाषा में फिल्म निर्माण की संभावनाओं को रचते हैं। भक्ति और श्रृंगार के अनूठे कवि विद्यापति की भाषा फिल्मी पर्दे पर आकर अधिक लोकप्रिय व जन संप्रेषी हो सकेगी।

हरियाणवी, राजस्थानी और छत्तीसगढ़ी सिनेमा भी प्रकारांतर से हिंदी के प्रचार–प्रसार को ही सुनिश्चित कर रहे हैं। हरियाणवी सिनेमा की 'बहूरानी', 'सांझी', 'चंद्रावल', 'जर जोरू और जमीन' जैसी महत्वपूर्ण फिल्मों ने हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब के कुछ हिस्सों में अत्यंत लोकप्रियता अर्जित की है। सन् 2000 में प्रदर्शित 'लाडो' को राष्ट्रीय पुरस्कार; डेब्यू निर्देशक अश्विनी चौधीद्ध भी मिला। छत्तीसगढ़ी फिल्मों के पितामह मनुनायक और किशोर साहू माने जाते हैं। छठवें दशक के अंतिम वर्षों में प्रदर्शित 'कवि देवे संदेश'; मनु नायकद्ध एक महत्वपूर्ण तथा पहली छत्तीसगढ़ी फिल्म कही जा सकती है, 'घर–द्वार', 'छइया–भुइया' (निर्देशक सतीश जैन, 2000) एक महत्वपूर्ण छत्तीसगढ़ी फिल्म है जिन्हें

अपने अंचल के बाहर भी व्यवसाय किया। 'भोला छत्तीस गढ़िया' 'मयाज भौजी' और 'परदेसी के गया' आदि फिल्मों के छत्तीसगढ़ी भाषा और संस्कृति को बल प्रदान किया है।

हिंदी बोलियों का सिनेमा अपने सीमित संसाधन और तकनीकी अपरिपक्वता के चलते भले ही कोई राष्ट्रीय, अन्तराष्ट्रीय पहचान न बना पाया हो परंतु इन बोलियों की शक्ति को बचाए रखने की संभावना उसने जरूर दिखाई है। जरूरत है कि क्षेत्रीय बोलियों में अधिकाधिक सिनेमा बने जिससे हिंदी भाषा का वटवृक्ष और भी ऊर्जा–स्रोत विकसित कर सके। बोलियों में बनने वाला सिनेमा अन्ततः हिंदी भाषा को ही समृद्ध करते हुए हिंदी सिनेमा और राष्ट्रीय एकता को दृढ़ता प्रदान करता है।

भाषा के भीतर संस्कृति का प्रच्छन्न प्रवाह बना रहता है। हिंदुस्तानी समाज के विभिन्न मुद्दे राष्ट्रीयता, आतंकवाद, सामाजिक ढाँचा, पारिवारिक रिश्ते, कृषि–किसान, औद्योगिकीकरण, बाजारवाद और भूमंडलीकरण, प्रवासी जीवन आदि हिंदी फिल्मों में उठते रहे हैं। अपने कथानक की बनावट और भाषाई अभिव्यक्तियों में हिंदी फिल्में इन मुद्दों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करती रही हैं। हिंदी फिल्मों ने हिंदी भाषा के प्रचार–प्रसार के साथ हिंदी भाषी समुदाय की चुनौतियों, संघर्ष–सपनों और चाहतों को भी विश्व फलक पर पहुँचाया है। हिंदी भाषा का विश्वव्यापी प्रसार इस समुदाय के मुद्दों को संबोधित किए बिना अधूरा ही माना जाता, लेकिन हिंदी फिल्मों ने अपनी इस भूमिका का बखूबी निर्वाह किया है।

दुनिया की कोई भाषा नए माहौल से अनुकूलन किए बिना जिंदा नहीं रह सकती। समाज में नयी हलचलों को पहचानने और उनके अभिलेखन के लिए भाषा को अपना ताना बाना बदलना पड़ता है। जब समाज और राष्ट्र नयी तकनीकी, कलात्मक, सांस्कृतिक जरूरतों की अपरिहार्यता से गुजरते है तब सक्षम भाषाएँ उनका साथ देने के लिए अपने नए अवतार में उपस्थित हो जाती हैं। हिंदी भाषा भी नव्यतम

चुनौतियों के वहन के लिए नई विधाओं और नए रूपों में हमारे सामने आयी है। हिंदी भाषा में फिल्म निर्माण के साथ हिंदी ने उर्दू को प्रमुख सहायिका बनाया, गीतों और संवादों के लिए दृश्यता का समावेश किया, भाषा और बिम्ब के अन्तर संतुलन की पहचान की, नई तरह की शैलियों को भी मानक बनाया, नए तरह के कोड, बिम्ब, प्रतीक, मितकथनों को ईजाद किया। पटकथा, संवाद और गीत लेखन जैसी नयी विधाओं का सृजन किया। हिंदी भाषा को तकनीकी अनुकूलन के लायक बनाया इसलिए हिंदी सिनेमा ने हिंदी भाषा के सर्वथा नए रूप रंग, और सांचे–ढांचे को गढ़ा है। हिंदी साहित्य और भाषा पर हिंदी फिल्मों का गहरा प्रभाव पड़ा है। हिंदी फिल्मों ने हिंदी के आलोचना शास्त्र के लिए कई मानक प्रदान किए हैं। इन मानकों को नयी विधाओं के रूप में तथा दृश्यता, मित कथन, संवादधर्मिता आदि कई रूपों मे चिन्हित किया जा सकता है।

किसी भी भाषा, साहित्य का विकास उसके आलोचना–शास्त्र के बिना संभव नहीं होता। आलोचना शास्त्र के मानदंडों का निर्माण भाषाई समूह के विविध् कलारूप तय करते हैं। हिंदी भाषा की संचारात्मकता, शैली, वैज्ञानिक अध्ययन, जन संप्रेषणीयता, पटकथात्मकता के निर्माण, संवाद लेखन, दृश्यात्मकता दृश्य भाषा, कोड निर्माण, संक्षिप्त कथन, बिंब धर्मिता, प्रतीकात्मकता, भाषा–दृश्य की अनुपातिकता आदि मानकों को हिंदी फिल्मों ने गढ़ा है। 'इंडियन डायसपोरा' विश्वस्तर पर एक नयी अवधारणा और सच्चाई है। हिंदी फिल्में हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति का लोकदूत बनकर इन तक पहुँचने की दिशा में अग्रसर हैं।

हिंदी-सिनेमा को केंद्र में रखकर हुए अंग्रेजी-लेखन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा यही मानकर चलता है कि हिंदी-सिनेमा की भाषा मुख्य रुप से उर्दू रही है। हिंदी सिनेमा का महल बहुमंजिला तो है लेकिन

इसका स्थापत्य इस्लामी रुपाकारों से प्रेरित है। इन इस्लामी रुपकारों का सबसे प्रकट उदाहरण है उर्दू। विडंबनापूर्ण लेकिन सच बात यह है कि आजाद भारत में उर्दू का आखिरी मजबूत मकाम हिंदी-सिनेमा ही साबित हुआ, भाषाई हठधर्मिता के सागर में उर्दू का आखिरी स्वर्ग। और जो ऐसा हुआ तो यह सही ही है क्योंकि हिंदी सिनेमा की काया उर्दू की जबांदानी और लोकाचारी संस्कारों से बनी है। " इसी बात का एक विस्तार नसरीन मुन्नी कबीर की किताब 'टॉकिंग फिल्मस्: कॉन्वर्सेशनस् ऑन हिंदी सिनेमा विद् जावेद अख्तर' में मिलता है। भारत की बोलती फिल्मों ने अपना बुनियादी ढांचा उर्दू फारसी थियेटर से हासिल किया। इसलिए बोलती फिल्मों की शुरुआत उर्दू से हुई। यहां तक कि कलकत्ता का नया थियेटर भी उर्दू के लेखकों का इस्तेमाल करता था। बात यह है कि उत्तर भारत के शहरी इलाके में उर्दू देश के बंटवारे से पहले बोल-चाल की जबान थी और इसे ज्यादातर लोग समझते थे और यह पहले की तरह आज भी बड़ी नफीस जबान है जिसके भीतर हर तरह के जज्बात और ड्रामे की तर्जुमानी की सलाहियत है।

हिंदी फिल्मों के संवादों की भाषा को हिंदी-उर्दू-हिन्दुस्तानी अथवा अंग्रेजी के झगड़े से दूर ले जाकर सोचें तो नजर आएगा कि यह एक बहुलस्वरी दुनिया है, नजर आएगा कि 'हिंदी फिल्म' शब्द एक व्युत्तपत्तिमूलक शब्द (जेनरिक टर्म) भर है – एक भाषा के आवरण में बहुभाषा को समेटने वाला शब्द। हम यह देख पायेंगे कि हिंदी-सिनेमा के संवाद 'साझी संस्कृति' के तकाजे से ही नहीं गढ़े जाते बल्कि कथा में आये पात्र को विश्वसनीय बनाने के लिए भी गढ़े जाते हैं और कथा के पात्रों को गढ़ा जाता है उस 'औसत दर्शक' की कल्पना से जो कालक्रम में हमेशा बदलते रहा है। इस कोने से देखें तो पता चले कि फिल्म मुगले-आजम में दिलीप कुमार का अगर उर्दू-छौंक वाला यह संवाद है कि-'मुझ पे जुल्म ढाते हुए आपको जरा ये सोचना चाहिए कि मैं आपके जिगर का टुक़ड़ा हूं, कोई गैर या कोई गुलाम नहीं' तो उसके

सामने खड़ी दुर्गा खोटे का संस्कृत की करुणा से लिप्त यह वाक्य भी – 'नहीं सलीम नहीं..तुम हमारी बरसों की प्रार्थनाओं का फल हो।' याद आएगा कि मुगले-आजम की बहुलस्वरी दुनिया में सिर्फ यही नहीं गाया गया कि - 'जब रात है ऐसी मतवाली तो सुबह का आलम क्या होगा' बल्कि उसमें किसी का यह स्वर भी शामिल था - 'मोहे पनघट पर नंदलाल छेड़ गयो रे..।' बहुभाषिकता के कोने से देख सकें तो तुलना कर पायेंगे मुगले-आजम में बोले हुए दिलीप कुमार के संवाद ('तकदीरें बदल जाती हैं, जमाना बदल जाता है..मगर इस बदलती दुनिया में मोहब्बत जिस इनसान का दामन थाम लेती है वो इनसान नहीं बदलता') की फिल्म 'गंगा-जमुना' में उन्हीं पर फिल्माये हुए गीत से ('रुप को मन मा बसई ब त बुरा का होईहैं, कोहू सो प्रीत लगईब त बुरा का होईहैं')। याद आएगा कि अमिताभ ने अपनी फिल्मों अगर यह कहा है कि 'मर्द को दर्द नहीं होता' तो 'माई नेम ईज एंथोनी गॉनसाल्विस' भी। हम देख पायेंगे कि हिंदी फिल्मों में अगर 'फिरऔनों के गरुर' को उनके ही महल में अपने पाँव के खून से कुचलती हुई एक 'पाकीजा' औरत है तो वह 'टपोरी' भी जो कहता है- 'आती क्या खंडाला'।

एक तो यही कि हिंदी-सिनेमा के भीतर एक लंबी कड़ी हिन्दू-धर्मकथाओं पर आधारित फिल्मों की रही है और उनकी संवाद-भाषा आजादी से पहले और बाद में भी संस्कृत की तरफ झुकी रही। इसके लिए ज्यादा उदाहरण ना देते हुए जिस दशक में फिल्म शोले(1975) बनी थी उसी दशक की दो फिल्मों हरिदर्शन(1972) और जय संतोषी मां(1975) को याद कर लेना काफी होगा। फिल्म हरिदर्शन में लक्ष्मी विष्णु के वाराह रुप धारण करने पर अचरज में पड़े नारद से कहती हैं- " प्रभु तो जैसा कारण हो वैसा ही रुप लेकर पापियों के पास जाते हैं। आप उनके प्रिय प्रतिनिधि होकर भी ये नहीं जान पाये।'' और 'जय संतोषी मां' फिल्म की शुरुआती पंक्ति ही है- "संतोषी मां की महिमा अपार है। हर भक्त ने उनकी महिमा

का गुणगान अपने अपने ढंग से किया है। इस चित्र की कथा भी कुछ धार्मिक पुस्तकों और लोककथाओं के आधार पर है। आशा है, आप इसे सच्ची भावना से स्वीकार करेंगे।"

दूसरी बात पारसी थियेटर से हिंदी फिल्मों के रिश्ते से जुड़ी है। हिंदी सिनेमा का एक बड़ा हिस्सा हिन्दू-मानस और संस्कृति का झरोखा है। 'अमर अकबर एंथोनी', 'कुली' और 'मर्द' सरीखी हिट फिल्मों के निर्देशक मनमोहन देसाई को विनयलाल ने यह कहते हुए उद्धृत किया है कि मेरी फिल्में महाभारत की कथाओं पर आधारित हैं। विनयलाल की मान्यता है कि हिंदी फिल्में हिन्दू-धर्म के मिथकों का पुनराख्यान हैं। वे इस कोटि में श्याम बेनेगल की फिल्म कलयुग (1980) को भी ऱखते हैं (क्योंकि इसमें महाभारत की ही कथा के समान दो व्यवसायी घरानों की दुश्मनी को दिखाया गया है) तो "हम पाँच" (1980) को भी (क्योंकि इसमें पांडव सरीखे पाँच भाइयों की टक्कर दुर्योधन सरीखे जमींदार वीरप्रताप और शकुनि सरीखे उसके लाला मामा की कुटिल चालों से होती है)। और हिंदी-फिल्मों के कथा-काया के भीतर हिन्दू मिथकों की आत्मा खोजने वाले अकेले विनय लाल ही नहीं हैं, उनसे मिलती-जुलती बात संस्कृति-मनोविज्ञानी सुधीर कक्कड़ भी कहते हैं। सुधीर कक्कड़ की मानो तो हिंदी फिल्मों के नायकों का छलिया और खिलंदड़ रुप (जैसे फिल्म राजा बाबू में गोविन्दा) कृष्ण के चरित्र पर गढ़ा गया वैसे ही धीरोदात्त रुप (जैसे फिल्म जंजीर में अमिताभ) राम के चरित्र पर।

'हिंदी फिल्मों के संवाद हिन्दुस्तानी में लिखे जाते हैं या उन्हें हिन्दुस्तानी में होना चाहिए'- यह बात जैसे ही कोई कहता है, बात भाषा से उठकर भारतीय राष्ट्रवाद के मनचीते स्वरुप पर चली आती है। फिल्मों में भाषा का प्रयोग फिल्म की कहानी पर भी बहुत हद तक निर्भर करता है। हिंदी फिल्मों में चलने वाली इस हिन्दुस्तानी भाषा के उदाहरण बहुतेरे हैं, मिसाल के लिए याद करें फिल्म दीवार का वह यादगार

संवाद जिसमें शिव की मूर्ति के आगे अमिताभ बच्चन को यह कहते हुए दिखाया गया है- "आज, खुश तो बहुत होगे तुम। देखो, जो आज तक तुम्हारे मंदिर की सीढियाँ नहीं चढ़ा। जिसने आज तक तुम्हारे सामने सिर नहीं झुकाया। जिसने आज तक कभी तुम्हारे सामने हाथ नहीं जोड़े। वो आज तुम्हारे सामने हाथ फ़ैलाए खड़ा है। बहुत खुश होगे तुम। बहुत खुश होगे कि आज मैं हार गया। लेकिन तुम जानते हो कि जिस वक्त मैं यहाँ खड़ा हूँ, वो औरत जिस के माथे से तुम्हारे चौखट का पत्थर घिस गया, वो औरत जिस पर ज़ुल्म बढ़े तो उसकी पूजा बढ़ी, वो औरत जो ज़िंदगी भर जलती रही लेकिन तुम्हारे मंदिर में दीप जलाती रही, वो औरत। वो औरत आज ज़िंदगी और मौत के सरहद पर खड़ी है। और.. ये तुम्हारी हार है...।" इस संवाद में जुल्म और जिंदगी सरीखे उर्दू-परंपरा के शब्द आते हैं तो मंदिर और दीप सरीखे हिंदी-परंपरा के शब्द भी। आगे इसी संवाद में जुर्म और सज़ा जैसे शब्द आते हैं तो सुहागन और विधवा जैसे शब्द भी।

आज अंग्रेजी के लोग हिंदी फिल्मों के पटकथा लेखन में अपना योगदान दे रहे है जबकि हिंदी या उर्दू का उन्हें "समुचित ज्ञान" नहीं है। हिंदी फिल्मों में सही हिंदी में कम ही लिखी जाती हैं। सरल हिंदी में लिखी पटकथा में भी बीच-बीच में अंग्रजी शब्दों का उपयोग जम कर किया जाता है। ऐसी स्क्रिप्ट यहां कम ही देखने को मिलती है, जिसमें अंग्रेजी शब्दों के मोह से बचते हुए शुद्ध हिंदी या उर्दू के शब्दों का उपयोग किया जाता हो।"

हमें बीते वक्त का अफसोस चाहे जितना हो लेकिन इस अफसोस से हिंदी-सिनेमा की भाषा(ओं) को नहीं पढ़ा जा सकता क्योंकि इस विधा को हमेशा अपने औसत दर्शक का अनुमान ठीक-ठीक लगाना पड़ता है। 1990 के दशक के आते-आते हिंदी-सिनेमा ने ठीक पहचाना कि उसका औसत दर्शक बदल चुका है। मध्यवर्ग का आकार ही नहीं बढ़ा साथ-साथ उसके स्वाद बढ़े हैं और वह अपने स्वाद को महत्वाकांक्षा की

भाषा हिंग्लिश में पहचानता है, उस हिंग्लिश को जिसे अख़बारों के समाचार से लेकर टीवी पर चलने वाले विज्ञापनों तक ने गढ़ा है। ऐसे में यह अफसोस क्यों कि 'हिंदी फिल्मों पर अंग्रेजी का बोलबाला' है ?

आज हिंदी फिल्मों में विदेशों से आई अभिनेत्रियां जैसे कटरीना कैफ, जैकलीन फर्नेंडेज, नर्गिस फखरी हिंदी जाने बगैर भी फिल्मों में जमकर काम कर रही हैं।

भाषा स्थानांतरण दुनिया के उत्कृष्ट कार्यक्रमों को हिंदी के माध्यम से रातों-रात करोड़ों नए दर्शक दे रहा है। यह स्वतंत्र बाज़ार और प्रतिस्पर्धा का आज का स्वीकृत खेल है। एक बात अवश्य है कि एक ओर हिंदी भाषा बाज़ार और मुनाफ़े की कुंजी बन रही है।

आज टी.वी. देखने वालों की कुल अनुमानित संख्या जो लगभग 10 करोड़ मानी गई है उसमें हिंदी का ही वर्चस्व है। आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि आर्थिक सुधारों व उदारीकरण के दौर में निजी पहल का जो चमत्कार हमारे सामने आया है इससे हम मानें या न मानें लेकिन हिंदी, भारतीय सिनेमा के माध्यम से दुनिया भर के दूरदराज़ के एक बड़े भू-भाग में समझी जाने वाली भाषा थी, है और हमेशा रहेगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. नारायण सिंह राजावत, "हिंदी सिनेमा के सौ वर्ष", भारतीय पुस्तक परिषद, 2009

2. कमला प्रसाद, "फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा" , शिल्पायन प्रकाशन

3. दुबे, विवेक, "हिंदी साहित्य और सिनेमा: (हिंदी कथा साहित्य के फिल्मांतरण के संदर्भ में)", संजय प्रकाशन 2009, नई दिल्ली

4. अग्रवाल, प्रहलाद; प्रसाद, कमला; स्वयं प्रकाश; शर्मा, राजेंद्र, "हिंदी सिनेमा बीसवी से इक्कीसवी सदी तक", साहित्य भंडार 2009, इलाहाबाद

5. "हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष", भारतीय पुस्तक परिषद् 2009, नई दिल्ली

6. रमेश उपाध्याय एवंम संज्ञा उपाध्याय द्वारा संपादित, "भूमंडलीकरण और भारतीय सिनेमा", शब्दसंधान प्रकाशन 2012, नई दिल्ली

7. यादव, वीरेन्द्र सिंह, "शताब्दी की दहलीज पर भारतीय सिनेमा: संघर्ष और मुक्ति के नये क्षितिज", ओमेगा पब्लिकेशन्स 2012, नई दिल्ली

8. भारद्वाज, शैलजा, "साहित्य और सिनेमा: बदलते परिदृश्य में संभावनाएँ और चुनौतियाँ", चिन्तन प्रकाशन 2013, कानपुर

Copyrights @ Dr.Kajal Pande..This is an open access peer reviewed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provide the original work is cited.